‘द्रव्यदृष्टि प्रकाश’ ग्रन्थमें से परसन्मुखता का निषेध तथा पर्यायसे निरपेक्षता विषयक वचनामृत

परसन्मुखता का निषेध

विचार करना – निर्विचार होनेके लिए। मिलना – फिर नहीं मिलने के लिए। ५३८.

❖

सच्चे देव, शास्त्र, गुरु भी ‘स्वभाव’ के अनायतन हैं। ५३९.

❖

‘आत्मधर्म’ मिला, उसमें से यह पढ़ते ही कि, ‘‘एक ही आवश्यक है,’’ चोट लगी ! – अरे यह आठ द्रव्य से पूजा करना! छ आवश्यक ! – यह तो सभी बोझा लगता है; और इसमें (एक आवश्यक में) तो बोझा घट जाता है। ५५६.

❖

उपयोग भगवान की ओर जावे तो भी जो (हम तो) उसे यम का दूत देखते हैं; तो (उसे) फिर अन्य कोई कहे कि – ‘मेरे से राग करो’ – तो वह कैसे बन सकता है ? ५६३. (अंगत)

❖

सम्यग्दृष्टि को एक विकल्प भी फाँसी–सा लगता है; विकसित स्वभाव को (विभावमात्र) फाँसी लगती है। ५७४.

❖

जिसमें थकावट आये, उसे हेय जानें। शुभाशुभ में थकावट आती है; शुद्धभाव में थकावट नहीं आती।
पर्याय को पर्याय के स्थान में रहने दो ! ६२२.

पर्यायसे निरपेक्षता

शास्त्र में परिणाम देखने की बात आती है, तो (अज्ञानी) परिणाम देखते रहते हैं; ध्रुववस्तु रह जाती है। परिणाम को ही देखते रहने में परिणाम के साथ एकता होती है, परिणामी में एकता नहीं रहती – अनित्य में नित्य चला जाता है। पर्याय की शुद्धि ऐसी है....ऐसी है – ऐसे पर्याय की बात में रस पड़ जानेसे नित्य का जोर नहीं रहता; पर्याय में जोर करने की तो आदत पड़ी ही है। ७४.

❖

प्रश्न :– वस्तुस्वभाव का लक्ष्य हो जानेपर कार्य होता ही है ?

उत्तर :– लक्ष्य और उसका ध्येय दूसरा होनेसे वस्तु दूसरी दिखती है, अतः लक्ष्य की पर्याय से देखना नहीं है। (यथार्थ लक्ष्य में लक्ष्य करनेवाली पर्याय गौण हो जाती है।) ‘मैं ही स्वयं वस्तु हूँ’ – ऐसे देखने से लक्ष्य की पर्याय गौण हो जाती है, तो उस पर्याय पर वजन नहीं जाता, मुख्यता नहीं आती, उसमें मुख्यता तो त्रिकालीपने की रहती है। ८०.

❖

कोई एकांत से वेदांत में खिंच नहीं जावे, इसलिए दोनों बातें बतायी हैं। पर्याय दूसरे में नहीं होती, कार्य तो पर्याय में ही होता है; ऐसा कहें तो वहाँ (पर्याय की रुचिवाले) चोंट जाते हैं – ऐसा तो है न ! ऐसा तो होना चाहिए न ! अरे भाई ! क्या होना चाहिए ? – छोड़ दे सब बातें जानने की ! ‘मैं तो त्रिकाली ही हूँ’, उत्पाद–व्यय कुछ ‘मेरे’ में है ही नहीं। ८८.

❖

(अनुसंधान पृष्ठ संख्या १६ पर)

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४२ : अंक-२१९, वर्ष-२०, जनवरी-२०१६

ज्येष्ठ कृष्ण ६, गुरुवार, दि. ९-६-१९६६, योगसार पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन-४, गाथा-१० से १२

यह योगसार, यह शास्त्र योगीन्द्रदेव कृत है। जो परमात्मप्रकाश बनाया है, उन्होंने यह बनाया है। दसवीं गाथा में बहिरात्मा की व्याख्या थोड़ी आयी है, साधारण आयी थी, अब विशेष विस्तार से करते हैं। '**बहिरात्मा पर को आप मानता है।**'

देहादिउ जे पर कहिया, ते अप्पाणु मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिण-भणिउ, पुणु संसारु भमेइ।।१०।।

यह श्लोक है। यह आत्मा अखण्ड आत्मा शुद्ध चैतन्य वस्तु अभेद पदार्थ है, उसे छोड़कर जो कुछ यह शरीर, घर, धन-धान्य, मकान, आबरू, कीर्ति, शरीर की क्रिया या अन्दर में पुण्य-पाप का भाव (होता है), वह सब मेरा है - ऐसा मानता है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है।

जो स्वरूप में नहीं... ज्ञान-आनन्द, वह आत्माका त्रिकाली शुद्ध आनन्दस्वरूप है, उसमें नहीं ऐसे पुण्य-पाप के, शुभ-अशुभ के विकल्प अथवा चार गति, छह काय, लेश्या, कषाय आदि भाव, वह परभाव है; वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। इस देहादि परभाव में सब आ गया। शरीर से लेकर अन्दर राग की मन्दता के शुभभाव, ये सब आत्मा से बाह्य है। ठीक होगा ?

यह बाह्य जो है, '**शरीर आदि जिनको आत्मा से भिन्न कहा गया है...**' शास्त्र में अथवा वस्तुस्वरूप में आत्मा आनन्द, ज्ञायकस्वरूप अभेद है, उससे यह दया, दान, व्रत आदि के भाव या हिंसादि के भाव या कषाय या गति, ये सब आत्मा के स्वभाव से बाह्य-बाहिर-अन्तर स्वरूप में नहीं - ऐसे बाहिर कहे गये हैं। ऐसे बाह्य भाव को आत्मा माने, उसे यहाँ मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा मूढ़ कहा है। समझ में आया ?

'**देहादिउ जे पर कहिया**' जिन्हें पर कहा है-ऐसा, फिर यहाँ शब्द है। सर्वज्ञ परमेश्वरने आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्दमूर्ति के अतिरिक्त (जितने भाव हैं, उन सबको परभाव कहा है)। यहाँ दो लाईनों में इतना डाला है। यह तो उसमें इन्होंने विस्तार किया है। कोई साधु-गृहस्थ का चारित्र पाले और उसे आत्माका स्वभाव जाने तो वह साधु, श्रावक तो मिथ्यादृष्टि है। यह तो इनने शुभभाव की व्याख्या की है। समझ में आया ? श्रावक या मुनि का जो शुभभाव व्यवहार है न ? पंच महाव्रत के, बारह व्रत के विकल्प हैं, उनके छह प्रकार के-श्रावक के छह प्रकार के कर्तव्य हैं न ? व्यवहार कर्तव्य है न ? देवदर्शन, गुरुपूजा इत्यादि... ऐसा जो आचरण है, व्यवहार से शुभराग है। ऐसे मुनि को भी पंचमहाव्रत आदि का आचरण, वह राग-शुभराग है। वह आचरण मेरा है और उस आचरण से मुझे हित होता है-ऐसा माननेवाले की दृष्टि बाहिर है, मिथ्यादृष्टि है, उसकी

बहिरात्मदृष्टि है, अन्तरदृष्टि नहीं। समझ में आया ?

तब (कोई कहता है) ज्ञानी को ऐसे भाव तो होते हैं। ऐसे भाव होने पर भी उन्हें अपना स्वरूप नहीं जानता, उनसे हित नहीं मानता-ऐसे श्रावक और मुनि के व्यवहार आचरण के जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार-ऐसे (आचार) आते हैं न ? काल में पढ़ना इत्यादि नहीं आता ? ऐ..ई..! 'प्रवचनसार'में तो ऐसा कहते हैं तुम्हारे प्रताप से ऐसा होगा... यहाँ कहते हैं कि ऐसे भाव से लाभ मानें तो उसे बहिरात्मा-मिथ्यादृष्टि कहा है। देखो, लिखा इसमें, ए..ई...! वहाँ तो निमित्त का कथन किया है। 'प्रवचनसार'में तो ऐसा भाव वहाँ होता है, उसका निमित्त का कथन किया है। ज्ञान में विनय से पढ़ना, काल में पढ़ना इत्यादि आठ बोल आते हैं न ? सम्यक्त्व के व्यवहार के आठ बोल आते हैं। चारित्र के आठ-पाँच समिति, तीन गुप्ति... ऐसा देखकर चलना इत्यादि... तप के बारह प्रकार, ये सब विकल्पात्मक भाव हैं, राग हैं; यह मेरा स्वरूप है अथवा इससे मेरा कल्याण (है-ऐसा मानता है)। जिससे कल्याण माने, वह उसे स्वरूप माने, उसे साधन माने तो भी वह मिथ्यादृष्टि है-ऐसा यहाँ तो कहते हैं। वह साधन नहीं है; साधन, स्वभाव में साधन है। समझ में आया ?

जो अन्तर का आवश्यक-कर्तव्य है, स्वरूप में स्थिरता वह... अन्य व्यवहार आवश्यक, उसे परमार्थ से आत्मा का स्वरूप जाने... '**देहादिउ जे पर कहिया**' देखो। '**देहादिउ जे पर कहिया**' वे सब पर हैं। शुभविकल्प-वृत्ति उत्पन्न होती है, वे सब पर हैं, विकार हैं, विभाव हैं, सदोष हैं। आहा..हा...! कहो समझ में आया ? ऐसे शुभ आचरण को (परभाव कहते हैं)। दूसरी भाषा, यहाँ तो अभी लक्ष्य में यह आया था। उदय का बोल है न ! भाई ! उदय के बोल, वह अभी लक्ष्य में आया था। इक्कीस बोल में कोई बोल जो है, वह आत्मा का माने तो बहिरबुद्धि-मिथ्यादृष्टि है।

मुमुक्षु :- आत्मा का तत्त्व है, ऐसा लिखा है।

उत्तर :- यह आत्मा का तत्त्व (कहा), वह तो एक समय की पर्याय का ज्ञान कराने को (कहा है)। एक समय की पर्याय में उसका ज्ञान कराने को... वस्तुदृष्टि की दृष्टि से वह बहिर्भाव है। समझ में आया ? ऐ...

'**देहादिउ जे पर कहिया**' यहाँ तो भगवान कहते हैं-ऐसा अपने सिद्ध करना है। योगीन्द्रदेव ऐसा कहते हैं न कि देह, शरीर, वाणी, मन, कर्म, धन, धान्य, लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र आदि यह सब भगवान आत्मा से भिन्न चीज है। एक ओर ली, यह तो अभी स्थूल बात थी। अब रही अन्दर में, यह बाह्य की बात हुई। अब अन्दर में जो कोई शुभपरिणाम उठते हैं, विभाव के आचरण, जिन्हें व्यवहार आचरणरूप से शास्त्र में कहा-ऐसा जो शुभ आचरण-भाव उत्पन्न होता है, वह भी वास्तव में बहिर्भाव है, क्योंकि अन्तर स्वभाव में नहीं है और अन्तर स्वभाव में रहता नहीं है। समझ में आया ? अन्तर स्वभाव में है नहीं और अन्तर

स्वभाव में शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति भगवान आत्मा है, उसमें यह दया, दान, व्रतादि के परिणाम शुभविकल्प या ज्ञानाचार–दर्शनाचार के परिणाम वह विभाव है। वह ज्ञानानन्दस्वरूप में नहीं है तथा उस ज्ञानानन्द की पूर्ण प्राप्ति हो, तब वह रहते नहीं हैं; इसलिए उसकी चीज नहीं है। समझ में आया ? आहा..हा..!

'**देहादिउ जे**' ऐसा प्रयोग किया है न ? भगवान एक ओर रह गया। एक समय में अखण्ड आनन्दकन्द अभेद चिदानन्द की मूर्ति, उसे आत्मारूप से जाने, तब तो सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ, वह तो जैसा जिसका स्वभाव, उस प्रकार उसका स्वीकार... और ऐसा आत्मा न मानकर, उस आत्मा से बाह्य चीजें जो विकल्पादि उत्पन्न होते हैं, जो उसमें नहीं है, उत्पन्न हों, फिर भी उसके स्वभाव में नहीं रहते और उसके स्वभाव का साधनरूप से मदद नहीं करते हैं। समझ में आया ? आहा..हा...!

दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा–ऐसा विकल्प शुभ है, वह वास्तव में बहिर्भाव है, विभाव है। पंच महाव्रत के परिणाम–अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य, यह भी एक विकल्प, विभाव है। यह उसका स्वरूप नहीं है। उस विभाव को स्वभाव माने या विभाव को स्वभाव का साधन माने या विभाव मेरी चीज में है ऐसा माने, (वह बहिरात्मा है)। समझ में आया ? भाई ! क्या होगा यह ? अद्‌भुत...! कहो, समझ में आया ?

यह पुण्यपरिणाम और पुण्य का फल, शुभभाव इससे बँधा पुण्य, यह उसके फलरूप से तुम्हें यह हजार (रुपये) वेतन मिलता है, यह तीनों मुझे मिलते हैं–ऐसा मानना, वह मूढ़ है, ऐसा यहाँ कहते हैं। भाई ! इसे शेयर मार्केट में एक हजार वेतन मिलता है। यह आया था, निवृत्ति लेकर आता है। यह तो पुण्य के परमाणु और पुण्य का भाव और उसके फल की बाहर की विचित्रता देखो, यह एकदम बढ़ा–ऐसा माननेवाला मूढ़ है। यह कहते हैं। भाई ! आहा..हा...! ऐ...ई...! लक्ष्मी और अधिकार बढनेसे क्या बढा ? क्या कुटुंब या परिवार से... यह बढ़ा तो तू बढ़ा ? या गुमढ़ा बढ़ा। गुमढ़ा समझते हो ? फोड़ा... फोड़ा... होता है।

एक सेठ को था, अपने एक भाई थे न ? 'ब्यावर.. ब्यावर' है न ? नहीं थे एक सेठ ? हम आहार करने गये थे। 'ब्यावर' में सेठ थे न ? गृहस्थ व्यक्ति, खानदानी व्यक्ति, बड़े गृहस्थ परन्तु पूरे शरीर में सुपारी–सुपारी जितने (फोड़े) पूरे शरीर में इतनी–इतनी गाँठें, हाँ ! 'ब्यावर'में सेठ थे। उनके यहाँ आहार करने गये थे। बड़े गृहस्थ, इज्जतदार। बड़े सेठ, बड़े व्यक्ति... शरीर देखो तो सर्वत्र इतनी–इतनी गाँठें निकली हुई, हाँ ! सुपारी (जैसी)–ऐसे गृहस्थ थे। लाख दवायें कितनी करते होंगे ? धूल में भी कुछ नहीं हुआ, मरते तक शरीर ऐसा का ऐसा रहा, लो ! यह मुझे हुआ–ऐसा मानना, बहिरात्मबुद्धि है–ऐसा कहते हैं। यह आत्मा में नहीं हुआ, यह तो जड़ की दशा में है।

इस प्रकार जड़ की दशा में सुन्दरता, कोमलता, आकृति, नरमायी, इत्यादि जड़ की दशा में होने पर 'मुझे हुआ', 'यह मुझे हुआ, यह मैं हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं नरम हूँ, मैं सुन्दर हूँ– यह बुद्धि शरीरादि को, पर को अपना माननेवाले की बुद्धि है।' समझ में आया ?

'**शरीरादि...**' आदि में सब डाला है, हाँ ! '**जिन्हें आत्मा से भिन्न कहा गया है।**' भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने परमार्थस्वरूप अपना निज स्वभाव, सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञायकमूर्ति अखण्डानन्द ध्रुव, अनादि–अनन्त स्वभाव, उससे जितने बहिर्भाव हैं, उन्हें अपना माने, उनसे अपने को लाभ माने–ऐसे यह मेरा कर्तव्य है, ऐसा माने, लो ! ऐसा कर्ता निकलता है या नहीं ? याद आया। समझ में आया ? जिन्हें–रागादि को जिसका कर्तव्य स्वीकार करे, उस कर्तव्य से भिन्न कैसे होगा ? कहो, भाई ! समझ में आया ? यह शुभभाव दया, दान, भक्ति, व्रतादि का शुभभाव मेरा कर्तव्य है और मैं वास्तव में उसका रचनेवाला हूँ–ऐसा जो मानता है, वैसे कर्तव्य को कैसे

छोड़ेगा ? ऐसे कर्तव्य को माननेवाला बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- व्याख्या लम्बी बहुत हो गयी।

उत्तर :- लम्बी हो गयी। मस्तिष्क में उदयभाव याद आ गया। यह तो थोड़े बोल हैं, बहुत बोल हैं उसमें, नहीं ? असिद्धत्वभाव, लो न ! असिद्धभाव, यह पढ़ने से उदयभाव दिमाग में आ गया। उदयभाव कितना असिद्ध है ? चौदहवें गुणस्थान तक असिद्धभाव है। यह सब असिद्धभाव, अपूर्णभाव, मलिनभाव, विपरीतभाव, खण्ड-खण्डभाव... समझ में आया ? उसे अपना स्वरुप माने, वह बहिरवस्तु है। भगवान अन्तर चिदानन्द की मूर्ति अखण्ड आनन्दकन्द ध्रुव चैतन्य है। उसे अपना स्वरूप न मानकर, जो उसमें से निकल जाता है, टिकता नहीं है... टिकते तत्त्व के साथ जो टिकता नहीं है, उसे अपना माने उसे बहिरात्मा मूढ़ जीव कहते हैं। अद्‌भुत व्याख्या कठोर ! ए... भाई !

बहिर-ऐसा शब्द है न यहाँ तो ? बहिर। '**देहादिउ सो बहिरप्पा... बहिरप्पा...**' बाहिर में आत्मा माननेवाला, ऐसा... भगवान आत्मा ज्ञायक की मूर्ति, चैतन्यसूर्य अनाकुल आनन्द का कन्द-ऐसा स्वतत्त्व स्वयंसिद्ध, उसे अपना न मानकर, उससे बाह्य के किसी भी विकल्प आचारादि के, व्यवहार आचार के, हाँ ! व्यवहार क्रिया के, व्यवहार महाव्रत के... समझ में आया ? समकित के व्यवहार श्रद्धा के आठ विकल्प, ज्ञानाचार के, चारित्राचार के व्यवहार के यह सब विभाव मेरा स्वभाव है अथवा इस विभाव से मेरा हित होगा- ऐसा माननेवाला उस विभाव को ही बहिर, बहिर को ही आत्मा मानता है। है न ?

'**देहादिउ जे पर कहिया ते अप्पाणु मुणेइ।**' उसे आत्मा जानता है। हम शब्दार्थ करते हैं। यह तो महासिद्धान्त है। आहा..हा...! समझ में आया ?

'**देहादिउ जे पर कहिया**' एक स्व रह गया, इसके अतिरिक्त (बाकी सब) पर। '**ते अप्पाणु मुणेइ**' उसे आत्मा माने अर्थात् उससे हित माने अर्थात् उस पुण्य-पाप के रागादि विभाव आचार को अपने स्वभाव का साधन माने तो स्वभाव और विकार दो एक माननेवाला, उसे ही आत्मा मानता है। '**सो बहिरप्पा**' उसकी दृष्टि ही चिदानन्द ज्ञायकभाव तरफ नहीं है, उसकी दृष्टि वहाँ आगे वह खण्ड-खण्ड आदि रागादिभाव या अल्पज्ञ आदि, उसमें जिसकी बुद्धि पड़ी है, वे सब (बहिरात्मा हैं)। उसमें कहा था न ? पण्डित, भेदविज्ञानी पण्ड्या अर्थात् बुद्धिवाला-ऐसा कहा न ? यहाँ अपण्ड्या लेना, ऐसा मेरा कहना है। है ?

पुण्य-पाप का रागभाव, शरीरभाव, वाणी से भिन्न-ऐसा भेदज्ञान, ऐसा पर से भेदज्ञान, स्वभाव तरफ की एकता (जिसे हुई है), उसे पण्डित कहा है। उस जीव को अन्तरात्मा कहा है। उसने आत्मा है, वैसा जाना, माना कहा जाता है। उससे विरुद्ध विकल्प रागादि को अपना स्वरूप माने, उसे अपण्ड्यो कहा है अर्थात् एकत्वबुद्धिवाला कहा है, इसलिए अपण्डयो कहा अर्थात् मूर्ख कहा है, बहिरात्मा कहा है। यह तो फिर उस पण्डया पर दिमाग गया कि पण्ड्या अर्थात् क्या होगा ? उसमें लिखा है, पण्ड्या अर्थात् बुद्धि। भेदविज्ञान की बुद्धि और यह (अज्ञानी) अभेद (मानता है)। स्वरूप में राग और पुण्य भिन्न है, उन्हें एक माननेवाला, वह अपण्ड्या, मूर्ख और बहिरात्मा है। समझ में आया ?

'**सो बहिरप्पा जिणभणिउ**' देखो ! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्हें एक समय में सेकेण्ड के असंख्य भाग में ज्ञान की ज्योत केवलज्ञानरूप से पूर्ण प्रगट हो गयी, चैतन्यसूर्य अन्दर पूर्ण सत्व पड़ा है। सर्वज्ञस्वभावी सत्व। आत्मा अर्थात् सर्वज्ञ-ज्ञ-स्वभावी, ज्ञ-स्वभावी, ज्ञ साथ में पूरा ज्ञ लो तो सर्वज्ञस्वभावी-ऐसा भगवान आत्मा, सर्वज्ञस्वभावी वस्तु आत्मा का अन्तर ध्यान करके जो सर्वज्ञस्वभाव जिसकी दशा में-अवस्था में प्रगट हो गया- ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर यह कहते हैं कि ऐसे सर्वज्ञस्वभावी आत्मा के अतिरिक्त दूसरी चीज को अपने लाभ के लिये

माने, हित के लिये माने अर्थात् अपनी माने, उसे बहिरात्मा कहा जाता है। कहो, इसमें समझ में आया या नहीं ? ऐ...भाई ! भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान.... भगवान... भगवान... ए... भगवान...! भगवान... भगवान... करे, यह विकल्प है, कहते हैं। इस विकल्प से आत्मा को लाभ माननेवाला बहिरात्मा है–ऐसा यहाँ कहते हैं, लो !

मुमुक्षु :– आपने सब पक्का कराया।

उत्तर :– पक्का करा लेना है, उसकी शैली प्रमाण बोले न ! कहो, भाई ! क्या है इसमें ?

एक, दो वस्तु है। एक ओर भगवान पूर्णानन्द का नाथ परमात्मस्वरूप स्वयं परम स्वरूप है, आत्मा अर्थात् परमस्वरूप। शुद्ध ध्रुव चैतन्य भगवान परमस्वरूप आत्मा को अपना मानना, वह तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और धर्म दशा हुई। ऐसा इसने अनन्त काल से नहीं माना। ऐसे स्वभाव से विरुद्ध अल्पज्ञ अवस्था, अल्पदर्शी, अल्प वीर्य या पुण्य–पाप के विकल्प या संयोगी बाह्य चीज में कहीं भी मुझे साधन है, हितकर है, लाभकारक है, मेरा है, उसमें मैं हूँ, वे मेरे हैं–ऐसी मान्यता को '**बहिरप्पा**' (कहते हैं)। यह आत्मा अन्तरमें से उछलकर बाहर को अपना मानता है। समझ में आया ? हैं ? सब आ गया ? मन्दिर और पूजा, यात्रा और यह सब विकल्प हैं, वे मेरे हैं (– ऐसा माननेवाला बहिरात्मा है)। ये हो भले परन्तु विभावरूप हेय है।

मुमुक्षु :– सब रोज पूजा करते हैं।

उत्तर :– कौन करता था ? करता कब है ? किया था अभी ? अभी इसमें पूजा की या नहीं ? आज थी न समवसरण की (पूजा) ? आज जल्दी थी, सवा सात बजे (होती है परन्तु) आज सात (बजे) थी। ऐसा कहते थे न ? कोई कहता था ? हो, उसके काल में भाव हो, परन्तु वह भाव अन्तर में स्वरूप की शान्ति को या स्वरूप की अखण्डता को वह भाव कुछ मदद करता है या स्वभाव को लाभ करता है–ऐसा नहीं है। फिर भी वह भाव व्यवहाररूप से आये बिना नहीं रहता है। अरे.. अरे...!

जैसे आत्मा है, परिपूर्ण प्रभु सच्चिदानन्दस्वरूप अखण्डानन्द एक है, इसी प्रकार यह शरीरादि जड़ भी है या नहीं ? मिट्टी आदि है, यह रजकण है या नहीं ? ऐसे वस्तु एक रूप से प्रभु अन्तर शुद्ध चैतन्य का भान होने पर भी, जैसे दूसरी चीज कहीं चली नहीं जाती–ऐसे अन्दर में जब तक पूर्ण दशा प्राप्त न हो, तब तक ऐसा व्यवहार खड़ा होता है परन्तु वह पररूप से होता है, स्वरूप से गिनने के लिये नहीं होता। आहा..हा...भाई ! बहुत कठिन बात है। ए...भाई ! क्या परन्तु ? तब ऐसा कहोगे तो पूरे दिन कोई कुछ नहीं करेगा। कहाँ गये ?

मुमुक्षु :– उत्साह उड़ जाता है।

उत्तर :– उत्साह उड़ जाता है ! सत्य का तो सत्य स्वरूप है–ऐसा रखना चाहिए। सत् के कोई खण्ड करना चाहिए ? सत्यवस्तु को वस्तुरूप से रखो, फेरफार मत करो। आहा..हा...! कहो, कैसा है ? ऐसी कठोर बात (सुनेंगे तो) 'इन्दौरवाले' सब चिल्ला उठेंगे।

यहाँ तो कहते हैं कि श्रावक का व्यवहार आचरण और साधु का व्यवहार आचरण, यह भी मुझे हितकर है–ऐसा माननेवाला बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है–ऐसा कहते हैं। क्योंकि यहाँ तो उदयभाव में राग लिया है न ? समझ में आया ? भगवान आत्मा... फिर वापस किये बिना रहे नहीं, कितने ही फिर ऐसा कहते हैं। भाई ! तुम्हें पता नहीं है, बापू ! वह भाव होता है, आता है। आत्मा का कर्तृत्व नहीं परन्तु कमजोरी के काल में वह भाव आता है, फिर भी हितकारी नहीं है। हितकारी नहीं है तो लाये किसलिए ? लाता नहीं परन्तु आता है। आहा..हा...! आ..हा..! ए...भाई !

'**बहिरप्पा जिणभणिउ, जिणभणिउ**' वीतराग परमेश्वर ने ऐसा कहा है। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा पूर्ण दशा जहाँ प्रगट हुई, वाणी में इच्छा बिना यह बात ऐसे आयी है। आहा..हा...! ए...भाई ! यह अद्भुत बात,

भाई ! अन्य कितने ही कहते हैं, यह 'सोनगढ़' की (बात अटपटी है) परन्तु यह 'सोनगढ़' की है या किसी के घर की है यह ?

मुमुक्षु :– सोनगढ़ की हो तो क्या आपत्ति ?

उत्तर :– परन्तु यह 'सोनगढ' का अर्थात् ऐसा उसके मन में (होता है)। अकेला एकान्त... ऐसा ! हमारा अनेकान्त है – ऐसा कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि यह बाहर के विकल्प हैं, भाई ! होता है परन्तु यह कोई आत्मा का कल्याण करनेवाला हैं और आत्मा का स्वरूप है–ऐसा मानना, वह मिथ्यात्व है। मेरे स्वरूप में मैं हूँ और वे मेरे में नहीं हैं, इसका नाम अनेकान्त कहा जाता है परन्तु यह मैं शुद्ध भी हूँ और मलिनभाव भी हूँ–ऐसा अनेकान्त हो सकता है ? समझ में आया ? मैं निश्चयस्वरूप से शुद्ध अखण्ड आनन्द हूँ, वैसे व्यवहारस्वरूप से विकल्प और विभाव भी मैं हूँ–ऐसा कोई हो सकता है ? समझ में आया ? अद्भुत बात... परन्तु इसने कभी अनन्त काल में यह बात लक्ष्य में नहीं ली है। आहा..हा...!

'**सो बहिरप्पा जिणभणिउ ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।**' '**पुणु संसार भमेइ**' बस ! फिर से ऐसा का ऐसा परिभ्रमण करेगा। अनादि काल से ऐसे पर को अपना मानता आया है और पर को इसे छोड़ना नहीं, तो पर को छोड़ना नहीं अर्थात् पर में वह परिभ्रमण करेगा। '**पुणु संसार भमेइ**' देखो ! बारम्बार... ऐसे फिर '**पुणु**' का (अर्थ किया) '**संसार में भ्रमण किया करता है।**' ऐसा आत्मा अनादि काल से आत्मा की मूल चीज को जाने बिना, असली स्वभाव को जाने बिना, विकृतरूप को अपना स्वरूप मानकर (परिभ्रमण) किया करता है)। कहो, समझ में आया ?

एक मनुष्य होता है, नहीं वह रूप धारण करता ? सिर पर अमुक करे और ऐसा (करे)। मुसलमान बहुत करते हैं। सिर पर कपड़ा ओढ़ते हैं और कपड़ा बाँधते हैं और ऐसा करते हैं। वे तो मानते हैं कि मैं तो मनुष्य हूँ, मैं यह नहीं। हाथी जैसा रूप धारण करे ऐसे सिर पर सींग नहीं लगाते ? हैं ? हाथी का मुखौटा डालते हैं–ऐसा करते हैं। मैंने देखा था। एक बार वहाँ उपाश्रय के पास निकला था, उपाश्रय के पास निकला था। सब एक–एक बार को ठीक से देख लिया है, वह व्यक्ति निकला था और सिर पर हाथी का मुखौटा... यह देखो परन्तु वह मानता होगा कि मैं हाथी नहीं। हैं ?

इसी प्रकार इस शरीर के मुखौटे के ऊपर लाल चमड़े के, यह वाणी धूल की और यह मानता है कि मेरी... अब इसे करना क्या ? और उसमें पुण्य और पाप के भाव उत्पन्न हों, वह बारीक चमड़े के टुकड़े हैं, वे कोई आत्मा का स्वभाव नहीं है। विभाव... विभाव, विकार... सदोष, उपाधि है, उसे अपना स्वरूप माने; विकृतरूप को अविकृत माने... विकृतरूप कहा न ? हाथी को, मनुष्य था, उसे अपना माने ऐसे आत्मा में होनेवाली विकृतदशा, शुभाशुभभाव के सम्बन्ध और उसका फल, उसे अपना माननेवाला विकृत को ही अविकृत मानता है, वह विकृत को कैसे छोड़ेगा ? इसलिए विकृत में बारम्बार भ्रमण करेगा। लो, यह दशवीं गाथा हुई।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (जनवरी–२०१६) का शुल्क
श्री धर्मेन्द्रभाई न्यालचंद वोरा, भावनगर के नाम से साभार प्राप्त हुआ है,
जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

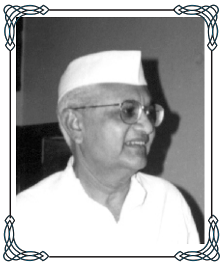

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार ग्रन्थ के वचनामृत–३६४ पर हुआ भाववाही प्रवचन

दि. १५–१०–१९८३, प्रवचन क्रमांक–१८४ (विषय – विधि)

आत्मा अचिन्त्य सामर्थ्यवाला है। उसमें अनन्त गुण स्वभाव है, उसकी रुचि हुए बिना, उपयोग परमें से पलटकर स्वमें नहीं आ सकता। जो पाप भावोंकी रुचिमें पड़े हैं–उनकी तो बात ही क्या ! पर पुण्य की रुचि वाले बाह्य त्याग करें–तप करें–द्रव्यलिंग धारण करें तो भी शुभ की रुचि है, तब–तक उपयोग पर–ओरसे पलटकर स्व में नहीं आ सकता। अतः प्रथम पर की रुचि पलटाने से ही उपयोग पर–औरसे पलटकर स्व में आ सकता है। मार्ग की यथार्थ विधि का यही क्रम है। ३६४.

(स्वरूप की) संप्राप्ति का उपाय विधि का क्या क्रम है, ऐसा कहा है। आत्म हितेच्छु जीव यदि इस क्रम को नहीं जाने और अविधि से उपाय करना चाहे तो उससे उसे आत्मलाभ नहीं होता। इस विषय का इसमें स्पष्टीकरण है।

‘**आत्मा अचिन्त्य सामर्थ्यवाला है। उसमें अनन्त गुण स्वभाव है, उसकी रुचि हुए बिना उपयोग परमें से पलटकर स्व में नहीं आ सकता।**’ क्या कहते हैं ? गुण की रुचि हुए बिना उपयोग पलटे, अनादि से पर ओर बहिर्मुख भाव से वर्तता उपयोग अथवा सर्व गुण के परिणाम, आत्मा के सर्व परिणाम जो पराश्रितपने वर्तते हैं, वह पलटकर स्व में आये, उसका मूल कारण क्या ? वह पलटे कब ? यदि गुण की रुचि हो तो। गुण की रुचि कहो, स्वभाव की रुचि कहो।

जो पहला वचनामृत है, कि ‘**आत्मा अचिन्त्य सामर्थ्यवाला है।**’ ऐसा उसे पहचानना चाहिये। आत्मा में जो सामर्थ्य भरा है, शक्तिओं का समूह है, अनन्त–अनन्त सामर्थ्य है। विचार और चिन्तवन में जो समाविष्ट नहीं हो सकता, अनुमान में जो समाविष्ट नहीं हो सकता उतना सामर्थ्य उसमें, अगाध सामर्थ्य भरा है। और उस सामर्थ्य में ‘**अनन्त गुणस्वभाव है,...**’

वैसे तो गुण है वह शान्त है। सभी गुण है वह, आत्मगुण है उसमें शांति व्याप्त है। कहीं भी अशांतता नहीं है। फिर भी उस शान्त स्वभाव का सामर्थ्य कितना ? कि अनन्त सामर्थ्य है उसमें। शान्ति में इतना सामर्थ्य है। शान्तता में, शान्त स्वभाव में उतना सामर्थ्य है। मेरु हिले, लेकिन आत्म स्वभावमें से विचलितता हो ऐसा नहीं बनता। यह ऊसके अडिग सामर्थ्य को सूचित करता है। ऐसा अन्दर में स्वभाव है। आत्मस्वभाव सदा ही एकरूप रहा हुआ तत्त्व कभी भी अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता। निगोद में अनन्त काल जीव जाय तो भी उसके स्वभाव सामर्थ्य में किंचित्मात्र फ़र्क़ नहीं पड़ता।

अनन्त काल से सिद्धालय में सिद्ध परमात्मा अनन्त चतुष्ट्य से अपने स्वरूप की पुष्टिरूप परिणाम से परिणमित होते हैं। तो स्वरूप पुष्ट हुआ ? स्वरूप तो वहाँ अनन्त काल से सिद्धों को है, वैसा ही वर्तमान में निगोद के जीवों को है। और इसके बाद सर्व काल में स्वभाव की, स्वरूप की, सामर्थ्य की स्थिति तो वही की वही है। उसमें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता।

ऐसे स्वभाव की अंतर रुचि हुए बिना, ऐसा कहते

हैं, '**उपयोग परमें से पलटकर स्व में नहीं आ सकता।**' यह इसका मूल कारण है। अविधि से स्वरूपस्थिरता करने का उपाय अनेक जीव करते हैं। अन्यमत में उस समाधि और ध्यान का विषय तो है कि आत्मा में समाधि लगाओ, ध्यान करो और उसके योग, प्रयोग और अनेक प्रकार से उसकी क्रियाएँ, ध्यान की भी अनेक प्रकार से पंचाग्नि तप करके भी करते हैं। आत्मा में उपयोग स्थिर करना है उतनी ही बात है न ? ऐसा कहते हैं। लेकिन उसका मूल कारण जाने बिना किसी तरह से उपयोग पलट नहीं सकता। वैसे तो यह इसकी वैज्ञानिक परिस्थिति है।

यह इसका विज्ञान है कि रुचि पलटे बिना किसीका उपयोग पलटा हो, उपयोग पलटे ऐसा बनता नहीं। अथवा अनादि से रुचि पर की है। वह रुचि वैसी की वैसी रहे और उपयोग पलट जाय, ऐसा कदापि नहीं बनता। क्योंकि रुचि को अनुसरण करता हुआ पुरुषार्थ है। रुचि अनुयायी वीर्य। पुरुषार्थ तो रुचि का अनुसरण करके होनेवाला है। स्वरूप में उपयोग आने का पुरुषार्थ विपरीत रुचि में कैसे हो सकता है ? वहाँ पुरुषार्थ की दिशा बदलती नहीं। जहाँ आत्मा की पहचान होती है वहाँ उसकी अनन्य रुचि उत्पन्न होती है। वहाँ उसका पुरुषार्थ-चैतन्यवीर्यकी स्फूरणा उत्पन्न होती है। वह चैतन्यवीर्य की स्फुरणा है, ज़ोर है, स्वभाव प्रति का ज़ोर है। महिमा का, स्वरूप की महिमा का जो ज़ोर है, उस ज़ोर के मूल में रुचि रही है। रुचि नहीं समझ में आये, लेकिन ज़ोर तो समझ सके ऐसा विषय है। यह ज़ोर होने का कारण स्वरूप की रुचि है। स्वयं ऐसा निर्दोष परमात्मा है, इसप्रकार स्वयं को भासित हो, वहाँ उसे गुण की अनन्य रुचि उत्पन्न हुए बिना रहती नहीं।

एक तो निर्दोषता का चाहक है, परिपूर्ण निर्दोषता का अभिलाषी है, उसे परिपूर्ण निर्दोष परम तत्त्व स्वयं में ही भासित हो, उसे उस निजतत्त्व की, स्वतत्त्व की अन्तर अनन्य रुचि, अपूर्व रुचि प्रगट होती है। यह रुचि उपयोग को पलट देती है। यह रुचि का वेग फिर उपयोग को पलट देता है। रुचि होने के बाद रुचि से विरूद्ध ऐसे जो विभावभाव हैं, उसका निषेध शुरू हो जाता है। वह उसके लिये अरुचि के परिणाम हो गये। स्वरूप की रुचि के पास विभावभाव, सर्व विभावभाव अरुचिपूर्वक के परिणाम हो गये। इसलिये उसमें अनादि से उपयोग जा रहा था, वह उपयोग अब वहाँ-से हट जायेगा।

मुमुक्षु :- द्रव्यलिंगी उपयोग से पलटने का बहुत प्रयत्न करता है।

पूज्य भाईश्री :- लेकिन उसकी रुचि शुभ में पड़ी है। इसमें आयेगा। द्रव्यलिंग धारण करे। है, चौथी पंक्ति है। द्रव्यलिंग धारण करे। '**पुण्य की रुचि वाले...**' द्रव्यलिंग भी धारण करे। पुण्य की रुचि कहो, शुभ की रुचि कहो। वहाँ द्रव्यलिंगी को अशुभ तो है नहीं। उसे वहाँ अशुभ नहीं। उसे वहाँ शुभभाव होता है वह रुचता है। जो शुभभाव अन्दर में कषाय की मन्दता के परिणाम होते हैं वह उसे रुचते हैं, सुहाते हैं। वहाँ-से उसे खिसकना अच्छा नहीं लगता। वह अन्तर स्वरूप को पहचानता नहीं और उसमें उसका उपयोग आने का प्रश्न नहीं रहता।

मुमुक्षु :- मूल में ही भूल है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ। जो अनादि से नहीं हुआ है वह, यह नहीं हुआ है कि गुण की रुचि प्रगट नहीं हुई। विभाव की रुचि रही है। अशुभ की रुचि हटकर क्षणिक-Temporary शुभ की रुचि हुई है। फिर वह अशुभ की रुचि में चला जाता है। क्योंकि वह तो एक ही जाति है। जाति में अन्तर नहीं हुआ। पुण्य के फल का उदय आये इसलिये उसमें संयोगी दृष्टि अखण्ड रही होने से, संयोगी दृष्टि अखण्ड रही होने से संयोग में लिपट जाता है।

'**अनन्त गुणस्भाव है,, उसकी रुचि हुए बिना**

उपयोग परमें से पलटकर स्व में नहीं आ सकता।' इच्छा करे कि मुझे स्व में उपयोग लाना है। और स्व में लाने का मैं प्रयत्न करता हूँ। रुचि कहाँ पड़ी है यह मालूम नहीं और उपयोग को स्व में लाने का प्रयत्न करता हूँ। कहते हैं कि वह अविधि से प्रयत्न चल रहा है। वह मार्ग की विधि नहीं है। मार्ग अर्थात् उपाय की वह विधि नहीं है। निश्चय से जो अन्तर्मुख होने का उपाय है, उसमें तो पहले रुचि पलटती है। यह उपाय मालूम नहीं। अविधि से कल्पना में चढ़कर उपाय करता है, कल्पित मार्ग का सेवन करता है, वास्तविकता से बहुत दूर जाता है। गृहित मिथ्यात्व में स्थूल उसका ज्ञान है और समझ भी स्थूल होती जाती है। स्थूल समझ से ही उसने शुरूआत की है।

यदि अन्दर में प्रयोजन का सूक्ष्म दृष्टिकोण हो तो उस जीव को तुरन्त खयाल आता है कि रुचि कहीं और है और उपयोग कहाँ–से पलटेगा ? समझाना पड़े उससे पहले उसे अन्दरमें से Alarm बजता है। Alarm बजता है तब जगता है न ? रुचि इस ओर है तो उपयोग पलटेगा कहाँ–से ? उपयोग पलटने की महेनत गलत है। शुभ और अशुभ परिणाम होनेपर उसका जो अनुभव होता है, वास्तव में तो उसका ज्ञान होता है लेकिन एकताबुद्धि के कारण ऐसा भास–आभास होता है–अनुभव होता है, तब उसे वह अच्छा लगता है। उसका स्वाद आता है। शुभ–अशुभ की कषाय की परिणति का पुद्‌गकल कर्म के विपाक का, कर्म प्रकृति का जीव को आस्वाद आता है। वह उसे रुचता है। रुचता है इसलिये वहाँ–से उपयोग पलटने की परिस्थिति रहती नहीं है।

'**जो पाप भावों की रुचि में पड़े हैं–उनकी तो बात ही क्या !**' ऐसा कहते हैं। जिसे विषय–कषाय के परिणाम रुचते हैं उसकी तो बात ही क्या करनी ? जिसे भोग–उपभोग में मजा है, सुख है, आनन्द है और उसमें जो अधिक से अधिक वेग से उसके पीछे धसता है। समस्त जगत की तो यह परिस्थिति है। चाहे जितनी संपत्ति हो फिर भी उसे बढ़ाने की और उससे बाहर में भोग–उपभोग के साधन प्राप्त करने, उसे भोगना, उसका आनन्द लेना, उसमें सुखानुभव करना वही उसे सुहाता है, रुचता है, उसकी तो यहाँ हमें चर्चा करनी व्यर्थ है कि उसे कोई लाभ होगा और उसका उपयोग आत्मा में आयेगा, यह बात नहीं है। भले हमें अशुभ की रुचि हो लेकिन शास्त्र का ज्ञान तो है कि नहीं ? वह शास्त्र का ज्ञान शुष्कज्ञान है। आत्मा की रुचि रहित शास्त्र का ज्ञान है वह सब शुष्कज्ञान है। वह ज्ञान उसे नुकसान करेगा। यह कच्चा पारा है। हजम करना कठिन है। ऐसे ही अविधि से सेवन करने से, जैसे कच्चा पारा कोई खा लेता है और शरीर में दिखने लगता है, ऐसा कहते हैं न ? उसे रोग हो जाता है। वैसे अविधि से यदि उसे प्राप्त करने जाय तो बड़ी गड़बड़ी होगी। छोटी नहीं होगी लेकिन बड़ी होगी।

मुमुक्षु :– ...

पूज्य भाईश्री :– अन्य रुचता है। आत्मा के अतिरिक्त द्रव्यभाव उदयमान जो परिणाम है, जीव को धारावाही उदय चल रहा है, संसारी जीवको धारावाही उदय चलता है। शुभाशुभ परिणाम में उसे ठीकपना, इष्टपना लगता है, वह उसे अनात्मा की रुचि है। जो परिणाम नुकसान का कारण है वह रुचता है। इससे बड़ा और कौन–सा अज्ञान होगा ? जो नुकसान करनेवाला है उससे मैत्री करता है, उसकी रुचि करता है। उसे छोड़ना नहीं चाहता, ऐसा उसका अर्थ है। रुचि करता है माने ? उसे छोड़ना नहीं चाहता। वह आत्मा की अरुचि को प्रसिद्ध करता है।

'**पाप भावों की रुचि में पड़े हैं–उनकी तो बात ही क्या ! पर पुण्य की रुचि वाले बाह्य त्याग करें–तप करें–द्रव्यलिंग धारण करे...**' पहलेवाले का तो पता नहीं लगेगा, ऐसा कहते हैं। जिसे भोग–उपभोग रुचता है उसका तो पता ही नहीं लगेगा। '**पर पुण्य की रुचि**

वाले...' शुभभाव हो, वह विशेषरूप से करना चाहे, उसमें आगे बढ़ना चाहे, अधिक से अधिक करना चाहे। बाह्य त्याग करे उस परिणाम को भी बढ़ाना चाहे, बाह्य तप करे उस परिणाम को भी बढ़ाना चाहे। इसमें सिद्धांत क्या है ? कि जिस भाव से मुक्त होना है, जिस भाव से छूटना है उसकी पक्कड़ तुझे क्या लाभ करेगी ? उसकी सहायता तुझे क्या काम आयेगी ? उसकी सहायता से तू आत्मकार्य करना चाहता है। वह नहीं हो सकेगा। जिससे छूटना है उसकी सहायता चाहिये ? दोनों बात विरूद्ध है। दोनों का मेल नहीं खाता।

शुभाशुभ परिणामों की क़िमत ऊड़ जानी चाहिये। खैर, मोक्षमार्ग में अशुभ की तो क़िमत है ही नहीं, लेकिन शुभ की क़िमत भी एक बार तो उसके अभिप्रायमें-से निरस्त हुए बिना उसे शुद्धता का मार्ग है, उसकी दिशा सूझे ऐसा नहीं है। मार्ग का अल्प भी आंशिक रूप से भी भान होना वह इस अभिप्राय को पकड़कर, विपरीत अभिप्राय को पकड़कर वह नहीं हो सकेगा। उसकी क़िमत तो उसे छूट जानी चाहिये। शुभ और शुभ का फल देवलोक पर्यंत का हो, अनन्त बार हो गया है उसकी कोई क़िमत नहीं है। अब जो कुछ करना है वह अपूर्व करना है। इस स्थिति में उसे आना चाहिये।

'**पुण्य की रुचि वाले बाह्य त्याग करें-तप करें-द्रव्यलिंग धारण करें तो भी जब तक शुभ की रुचि है, तब-तक उपयोग पर-ओरसे पलटकर स्व में नहीं आ सकता।**' कोई ऐसा कहे कि लेकिन इतना-इतना करे उसकी आपको कोई क़िमत नहीं है ? लेकिन बहुत लोग हिमालय चढते हैं, उसकी क्या क़िमत है ? जाते हैं न माउन्ट एवरेस्ट चढने के लिये ? इतना साहस करते हैं, उसकी कोई क़िमत नहीं ? एक भाई अभी दौड़ते हैं। 'अहेमदाबाद' से 'दिल्ही'। पूरे विश्व में दौड़कर आ गये और अभी दौड़ते ही रहते हैं। अभी भी उसकी Practice है। ७५-८० साल की उम्र है। ७६ वर्ष आसपास उसकी उम्र है। उसका दौड़ने का ही क्रम है। अभी 'अहेमदाबाद' से 'दिल्ही' दौड़े। उसकी क़िमत कितनी ? कहिये। बहुत दौड़ सकते हैं।

मुमुक्षु :- वह तो अशुभ में है।

पूज्य भाईश्री :- नहीं, ये तो एक क्या है कि कितने ही परिश्रम ऐसे हैं, दृष्टांत यह लेना है। कितने ही परिश्रम ऐसे हैं कि जिसका रचनात्मक मूल्य कुछ नहीं है। उससे जगत को क्या फायदा है ? एक मनुष्य बहत दौड सकता है इससे जगतको क्या फायदा है ? उसे क्या फायदा है ? अनेक प्रकार के ऐसे व्यर्थ परिश्रम है जो जगत में करते हैं। वैसे कोई तप-त्याग का भी व्यर्थ परिश्रम करते हैं। फिर माने उसे मोक्ष का मार्ग कि ऐसा करने-से धर्म होता है और आत्मा की मुक्ति होती है। कर्म की निर्जरा होती है। लो ! तप से कर्म की निर्जरा होती है न ? यहाँ तो वह राग है, बन्ध का कारण है। कर्म की निर्जरा कारण नहीं है, अपितु बन्ध का कारण है। और अन्तरंग में-स्वरूप में एकाग्र होना उसे जो तप कहते हैं वही निर्जरा का कारण है। 'उमास्वामी' महाराज का सूत्र है। तपसा निर्जरा है। वह अन्तरंग तप का विषय है। कारण कि उन्हों ने उसी ग्रन्थ में महाव्रतादि के परिणाम को, व्रतादि के परिणाम को बन्ध का कारण कहा है।

'**द्रव्यलिंग धारण करें...**' अर्थात् जिनदीक्षा अंगीकार करे '**तो भी जब तक शुभ की रुचि है, तब-तक...**' अन्दर में वह शुभ परिणाम होते हैं। द्रव्यलिंगी को तो इतनी कषाय की मन्दता होती है कि आज ऐसी मन्दता देखने नहीं मिले। उसका सहस्त्रांश भी देखने नहीं मिले। उस मन्दता को सहस्त्रगुना बड़ी करो उतने भाग अभी कषाय मन्द होता है, उसका देखने नहीं मिलता।

मुमुक्षु :- कुछ तो गिनीये।

पूज्य भाईश्री :- कहता हूँ न कि दौड़े.. दौड़े..

दौड़े.. 'अहेमदाबाद' से 'दिल्ही', क्या गिनना उसका ? उससे कोई समाज को लाभ है ? समाज को क्या लाभ है ?

मुमुक्षु :- लाभ नहीं होता।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, वह मानता है कि मुझे लाभ हुआ। उसका स्वागत हो, उसे मान मिले इसीलिये तो करता है। वैसे ही यहाँ भी समाज के अन्दर उसकी गिनती तो हो, कि इतना त्याग, इतना तप, फलाने-फलाने बड़े धर्मी, संत-महंत (हैं)। कहते हैं कि वह तुझे कुछ काम में नहीं आयेगा। अन्तरंग सुख और शान्ति प्रगट होने के लिये किसी के दिये मान-सन्मान काम नहीं आते। कोई मान-सन्मान दे इससे अन्दर में सुख-शान्ति प्रगट होते हैं ? उसमें तो दुःख होता है। भले कल्पना करे कि उसमें भी सुख होता है, लेकिन है दुःख। उस वक्त भी अनन्त दुःख में है। ऐसी आकूलता की परिस्थिति है।

जैसे 'गुरुदेव' तो उस मानवृत्ति को कूत्ते की वृत्ति कहते थे। जैसे कूत्ता घर-घर रोटी के टूकड़े के लिये जाता है। फिर कोई धुत्कारकर भगाता है तो दूसरे घरपर जाता है। जाकर खड़ा रहे, कोई रोटी का टूकड़ा डाल दे तो। वैसे यह जीव मान प्राप्ति हेतु विभिन्न स्थानों में भटकता है, आशा करता है। 'आनन्दघनजी' का पद (है)। कूकर आशाधारी। कूत्ते की भाँति आशा धारण करता है। पूरा पद याद है ?

मुमुक्षु :- भटकत द्वार द्वार लोकनके, कूकर आशाधारी, आतम अनुभवरस के रसिया, उतरे न कबहू खुमारी।

पूज्य भाईश्री :- कूकर आशाधारी। वह बराबर है। 'भटकन लोक द्वार'। लोगों के घर-घर भटकता है। यहाँ-से मान मिले तो अच्छा है, यहाँ-से मान मिले तो अच्छा है, यहाँ-से मान मिले तो अच्छा है। कहते हैं कि, ऐसी पर की अपेक्षा में आकूलित वृत्ति और दुःख के सिवा और कुछ अनुभव में आ सकता नहीं।

जब-तक शुभ की रुचि है, तब-तक '**उपयोग पर-ओरसे पलटकर स्व में नहीं आ सकता।**' तब-तक जीव के उपयोग को पलटने की जो नैसर्गिक परिस्थिति है, सहज उपयोग अन्तर्मुख हो ऐसा बनता नहीं। आत्म स्वरूप की पहचान के काल में ऐसा एक आकर्षण उत्पन्न होता है। उसकी रुचि होती है इसलिये अत्यन्त आकर्षण उत्पन्न होता है कि मैं ऐसा महान पदार्थ ! मैं ऐसा महान पदार्थ ! इसप्रकार उसे अन्दर में महिमा और आकर्षण उत्पन्न होता है। वह उसके उपयोग को खींचता है। बाहर जा रहे उपयोग को रोकता है। ऐसा अन्दर में परमात्मा बिराजमान है, वह बड़ा आकर्षण का स्थान है। इस कारण उपयोग अन्दर आता है।

इसलिये पहले पर की रुचि पलटने से उपयोग पर ओर से पलटकर स्व में आ सकता है। इसलिये पहले रुचि पलटे, फिर उपयोग पलटता है, यह कहना है। रुचि पलटे बिना कभी किसी का उपयोग पलटे ऐसा बनता नहीं। भले ही ज्ञान, ध्यान की चाहे जितनी महेनत करे। उपयोग को स्व में लाने का साधन क्या ? कि ज्ञान-ध्यान करना ऐसा कोई विचार करे। शास्त्र का ज्ञान और एकान्त में बैठकर ध्यान (करना)। लेकिन अन्दर में रुचि इस ओर की विपरीत है, उसका खयाल न हो अथवा उदय के परिणाम में उसे परिणाम और परिणाम का विषय रुचता है, उसमें जागृति ही नहीं हो। उसे अन्दर में खटकना चाहिये। जैसे कोई मनुष्य को धक्का लगता है, वैसे धक्का लगना चाहिये। उसके परिणाम के रस पर प्रहार होना चाहिये। परिणाम में रस उत्पन्न होता है, उस पर प्रहार हुए बिना, जागृति आये बिना कदापि उसकी रुचि खिरती नहीं, रुचि का नाश नहीं होता। रुचि वैसी ही रहे और ज्ञान-ध्यान करे तो वह ज्ञान-ध्यान कोई काम में नहीं आते।

'**मार्ग की यथार्थ विधि का यह क्रम है।**' 'बहिनश्री के वचनामृत' में इतना वचन है। मार्ग की यथार्थ विधि का यह क्रम है। ऐसी यथार्थ विधि है कि पहले रुचि

पलटे, फिर उपयोग पलटता है। कैसे आत्मज्ञान हो और कैसे उपयोग पलटे, हमे यह सब ज्ञात है। अध्यात्म का विषय जाना, आगम का विषय जाना, सब बराबर है ऐसा लगा। लेकिन वह सब बराबर है ऐसे तुझे बुद्धिगोचर हुआ, अब यह तो जाँच कर कि रुचि कहां है ?

पूरे जगत का ज्ञान करना है। कहते हैं कि वह ज्ञान बन्धन का कारण होगा। सर्वप्रथम सर्व विकल्प को छोड़कर, अन्य सर्व प्रयत्न को छोड़कर एक स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिये। कि जिस पहचान से उसे आत्मा की अनन्य रुचि प्रगट हो और तो उसका उपयोग पलटे। वरना अन्य कोई प्रकार से इसमें कोई साधन कार्यगत नहीं होता।

मुमुक्षु :- रुचि के लिये आत्मा को जानना ?

पूज्य भाईश्री :- पहचाने बिना रुचि कैसे हो ? गुणभण्डार है, गुण की रुचि प्रगट हो। पहचाने बिना गुण की रुचि कहाँ-से प्रगट होगी ? घर में हीरा है यह मालूम नहीं हो तो काँच का टूकड़ा मानकर रखड़ता है। सँभाले कैसे ? इतना बड़ा हीरा हो, कोहीनूर जितना। कच्चा। पहचान नहीं हो तो पत्थर समझकर ठेस मारे। कोई जानकार उसे कहे कि इसकी कोर खिरे तो क़िमत में लाखों का फ़र्क़ पड़ता है। इसकी कोरमें-से एक कण खिरे तो उसके लाखों रुपये आये ऐसा है। उसमें से दूसरे हीरे के गहने हो जाय। इतनी यह क़िमती चीज है। लेकिन बिना पहचान क्या हो सकता है ? वैसे ही आत्मा की पहचान बिना आत्मा को भटकाता है। परमात्मा को चौरासी लाख बंधीखाने में जेल में डालता है। कभी इसमें तो कभी उसमें। कभी इसमें तो कभी उसमें। यह परिस्थिति है।

३६४ समाप्त हुआ। बहुत मुद्दे की बात इसमें कही है। मार्ग की विधि। प्रथम तो कोई क्रिया में चढ़ जाते हैं, कोई ज्ञान की क्रिया में और कोई शरीर की क्रिया में चढ़ते हैं। उसे इस विषय में प्रकाश डालनेवाला यह विषय है। पहले रुचि की ओर तो ध्यान दे। तुम ऐसा करने लग गये और वैसा करने को मथते हो, लेकिन रुचि कहाँ पडी है, यह तो मालूम नहीं है। यह मूल की बात है।

मुमुक्षु :- रुचि के लिये खास क्या ?

पूज्य भाईश्री :- पहचान करनी एक ही बात है। अस्ति से आत्मा की पहचान करने का प्रयत्न है। नास्ति से जितने कोई उदयभाव के परिणाम हैं उसमें मैं... रागरस की मलिनता वही उसका आचरण है। वही उसे ढकता है। वह आत्मा को पहचानने नहीं देता। इसलिये उदयभाव में अरसपरिणाम और वह अरसपरिणाम होनेपर ज्ञान से स्वरूप को पहचानने की, ज्ञान लक्षण द्वारा अन्दर में प्रयत्न करना कि जिससे उसे स्वरूप पहचानने में आये तो उसकी रुचि अन्दर से उछले। इतनी अनन्य रुचि हो कि जगत में एक ही विषय उसे हो जाता है। उसके लिये रुचि का विषय अन्य कोई नहीं रहता। उसका उपयोग स्व में नहीं आये, यह प्रश्न ही नहीं है फिर। परमें-से खिसके नहीं वह प्रश्न नहीं। उसे स्व की रुचि हो और उपयोग स्व में नहीं आये, यह सवाल ही नहीं। यह परिस्थिति है।

मुमुक्षु :- रुचि में सौ प्रतिशत।

पूज्य भाईश्री :- रुचि में अन्य प्रतिशतता नहीं होती, भाग नहीं होते। मेरी इतनी रुचि इसमें है और अब इतनी रुचि इसमें है। पहले पचास प्रतिशत थी, अब चालीस प्रतिशत हो गई है। ऐसा नहीं बनता। पूर्णतया रुचि या तो पर में है, शुभाशुभ में है या पूर्णतया रुचि आत्मा में है। ऐसा है।

जब-तक आत्मा की पहचान नहीं है, तब-तक पर की रुचि में फ़र्क़ नहीं पड़ता। जहाँ आत्मा की पहचान होती है, वहाँ रुचि पूर्णरूप से बदल जाती है। फिर उपयोग क्रमशः बदले बिना रहता नहीं।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- हाँ। अस्ति के विषय में ज्ञान

स्वयं है। इसमें लिया है न ? अनादि से ज्ञानलक्षण से आत्मा को पहचाने बिना ही इस जीवने जितनी भी प्रवृत्ति की है वह सब सुखी होने अर्थ व्यर्थ और मिथ्याप्रवृत्ति की है। ३९ में है ? दूसरा भाग है। 'समयसार' में है।

'इस जगत में आत्मा का असाधारण लक्षण न जानने के कारण...' यह कारण है। **'अत्यन्त विमूढ़ होते हुए, तात्त्विक (परमार्थभूत) आत्मा को न जाननेवाले बहुतसे अज्ञानी जन अनेक प्रकार से परको भी आत्मा कहते हैं,...'** पर को आत्मा कहते हैं। शुभाशुभ की रुचि है वही उसका आत्मा हो गया। जहाँ जिसकी रुचि है वह उसका आत्मा है वास्तव में तो। वह उसे आत्मापने स्वीकारता है। और पूर्ण परमात्मस्वरूप जो स्वरूप से है, उसका उसमें अनादर है।

'आनन्दघनजी' ने लिया है न ? द्वेष अरोचक भाव। ('गुरुदेवश्री') यह विषय बहुत कहते थे। द्वेष अरोचक भाव। आत्मा की अरुचि है वह परमात्मा आत्मा के प्रति द्वेष है। लेकिन मैं तो प्रतिदिन परमात्मा की पूजा करता हूँ, भगवान की पूजा करने मन्दिर जाता हूँ। मुझे क्या द्वेष होगा भगवान पर ? मूल में तेरे भगवान पर तुझे द्वेष है, फिर तू दूसरे भगवान को मानता है यह बात रहती नहीं। तेरी पूजा पूजा नहीं है, अपितु मोहभजन है। 'दीपचन्दजी' ने कहा है। पूजा को मोहभजन कहा है। भगवान को वह मोह से भजता है। वह ज्ञान से और रुचि से नहीं भजता।

मुमुक्षु :- मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, वह सब विचार..

पूज्य भाईश्री :- बुद्ध हूँ उसमें ज्ञान हूँ, ऐसा आया न। बुद्ध हूँ उसमें ज्ञान हूँ। और अकेला ज्ञानमय हूँ वह शुद्ध हूँ। केवलज्ञानमय हूँ वह शुद्ध हूँ। ज्ञान है वह असाधारण लक्षण है। अन्य जितने भी विशेषण और जितनी कोई आत्मा की विशेषताएँ है उससे असाधारपना नहीं है। पहचानने के लिये उससे असाधारणपना नहीं है। ज्ञान ही असाधारण लक्षण है कि जिसके द्वारा पूरा आत्मा, अखण्ड आत्मा, परिपूर्ण आत्मा परमतत्त्व पहचाना जाता है।

पूज्य भाईश्री शशीभाई का ८३वां जन्मजयंति महोत्सव आनंदोल्लासपूर्वक संपन्न

पूज्य भाईश्री शशीभाई का ८३वां जन्म जयंति महोत्सव दि. १४-१२-२०१५ से दि. १८-१२-२०१५ तक अत्यंत आनंदोल्लासपूर्वक मनाया गया। इस महोत्सव के उपलक्ष्यमें पंच दिवसिय समवसरण मंडलविधान रखा गया था। पूज्य भाईश्री शशीभाई के ओडियो तथा वीडियो सीडी प्रवचनों का लाभ लिया गया।

दि.१७-१२-२०१५ के दिन एक भव्य रथयात्रा का आयोजन किया गया, जो शहर के मुख्य मार्ग पर होती हुई शाम ५-०० बजे जिनमंदिर में समाप्त हुई। पारणाझुलन, जन्मवधामणा आदि कार्यक्रम भक्ति सहित मनाया गया। दि. १८-१२-२०१५ के दिन पूज्य भाईश्री के 'अनुभव प्रकाश' ग्रन्थ पर धारावाही प्रवचन 'अनुभव प्रकाश की किरणें' भाग-७-८-९ (गुजराती में) प्रकाशित किये गये।

इस प्रसंग पर कोलकाटा, आग्रा, मुंबई, अहमदाबाद, सोनगढ़ इत्यादिक स्थान से मुमुक्षु लोग पधारे थें।

नवीन प्रकाशन

'आत्मावलोकन' ग्रंथ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचनों का कार्य शुरु किया गया है। कुल ६ भाग में प्रवचन प्रकाशित किये जायेंगे। तत्पश्चात् 'चिद्विलास' ग्रंथ पर प्रवचन प्रकाशित करनेकी भावना है।

'द्रव्यदृष्टि प्रकाश' वचनामृत

अज्ञानी, पर्यायमें ही अपनापन, सन्तोष, अधिकता आदि रखते हैं। पर्यायमें उल्लास तो है न ! पर्यायमें विशेषता तो है न ! पर्यायने द्रव्यका महात्म्य तो किया न ! पर्याय अन्तरमें तो ढलती है न ! - ऐसे-ऐसे किसी न किसी प्रकारसे पर्यायमें ही वजन रखते हैं। लेकिन पर्यायसे हटकर, 'मैं तो त्रिकालीदल जैसा का तैसा हूँ, परिणाम मात्र मेरेमें नहीं है' - ऐसे ध्रुवपनेमें, अधिकता नहीं थापते। कारण कि वेदनमें तो पर्याय आती है, और द्रव्य तो अप्रकट है; अप्रकटको तो नहीं देखते हैं, पर्यायमें ही अपनापन रखते हैं।

लेकिन, यहाँ तो कोई भी पर्याय हो - सुख अनन्त हो या ज्ञान अनन्त हो या वीर्य अनन्त हो तो भी 'मुझे' कुछ परवाह नहीं, 'मैं' तो स्वभावसे सुखस्वरूप ही हूँ। - ऐसे ध्रुव स्वभावमें ही अधिकपनेका वेदन करनेका है और शुद्धपर्यायोंको भी गौण करना है-गौणपने वेदन करना है। ध्रुववस्तुमें 'मैं- पना' स्थापित किये बिना, पर्यायसे एकत्व नहीं छूट सकता। ९६.

❖

(शास्त्र में) मुनि के लिए ऐसा कहा है कि-यदि अन्य मुनि बीमार हो तो वैयावृत्य करना। - वह तो विकल्प होवे तो ऐसा होवे, उसकी बात है। 'अपने में एकाग्र हो' तो प्रथम तो वही कर्तव्य है 'विकल्प' कर्तव्य नहीं। १५५.

❖

(श्रोता :-) साक्षीभाव रहना चाहिए ?

(श्री सोगानीजी :-) 'अपन' तो साक्षीभाव में भी नहीं आते। 'अपन' तो ऐसी भूमि हैं जहाँसे एक साक्षीभाव तो क्या... अनंत साक्षीभाव उठते रहेंगे। एक समय के साक्षीभाव में 'मैं' पूरा का पूरा आजाऊँ तो 'मेरा' नाश हो जाए। साक्षीभाव में (साक्षीभाव के विकल्प में) भी एकत्व नहीं करना है। जहाँ से वह (साक्षीभाव) उठता है... वो ही भूमि - नक्कर (स्थिर, ठोस) स्थल - 'मैं' हूँ। १७९.

❖

'मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ' फिर (स्वरूप में तो) मुक्ति का प्रयास करने का भी सवाल नहीं उठता। करना क्या है ? - परिपूर्ण में मुक्ति क्या करना ! ३२५.

❖

मोक्ष होवे न होवे - उसकी दरकार नहीं; (अतीन्द्रिय) सुख चालू हो गया फिर पर्याय में मोक्ष (तो) होगा ही। ३३५.

❖

एक समय के परिणाम - बंध-मुक्त - से वस्तु शून्य (रहित) है, ऐसा 'परमात्मप्रकाश' में कहा है। ३६५.

❖

प्रश्न :- एक समय के आनंद का अनुभव तो पकड़ने में आता नहीं तो कैसे खबर पड़े ?

उत्तर :- अरे भाई ! अनुभव खुद के खयाल में नहीं आवे, ऐसा होता ही नहीं। (क्योंकि आनंद के अनुभवकाल में निर्विकल्प उपयोग असंख्य समय का होता है।) परंतु वह परिणाम हुआ कि नहीं ? - ऐसे विचार कर-करके क्या उसमें संतोष करना है ? अरे ! सदा ही निर्विकल्प रहे तो भी (त्रिकाली स्वभाव के आगे) उसकी मुख्यता नहीं करनी है। ३६७.

❖

ज्ञान के उघाड़ में रस लगता है.... तो तत्त्वरसिक जन कहते हैं कि हमको तेरी बोली में रस नहीं आता, हमें तो तेरी बोली काक पक्षी जैसी (अप्रिय) लगती है। ३७२.

❖

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

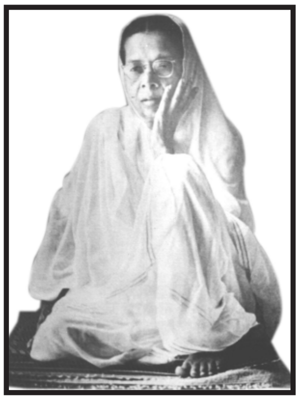

मुमुक्षु :– छठवीं गाथामें प्रमत्त–अप्रमत्त रहित ध्रुव ज्ञायक कहा है, वह तो समझ में आता है; फिर आगे कहते हैं कि ज्ञेयाकार अवस्थामें जो ज्ञायकरूपसे ज्ञात हुआ वह स्वरूप प्रकाशनमें भी कर्ता–कर्मका अनन्यपना होनेसे ज्ञायक ही है। अब प्रश्न यह है कि–यहाँ ध्रुव ज्ञायककी बात चलती है तो आगे अवस्थाकी बात क्यों ली ? तो वहाँ अवस्था समझाना है या त्रैकालिक ज्ञायक समझाना है ? दोनोंमें ज्ञायक एक ही है या भिन्न है ?

समाधान :– ज्ञायक एक ही है। आचार्यदेवको ज्ञायक ही सिद्ध करना है। ज्ञायक तो अनादिका ज्ञायक ही है। विभावदशामें, प्रमत्त–अप्रमत्त दशामें, ज्ञेयाकार दशामें अथवा स्वरूपप्रकाशनकी दशामें वह ज्ञायक ही है। आचार्यदेव कहते हैं कि अनादिसे जो विभावकी पर्याय होती है उसमें भी वह ज्ञायक ही रहा है, अनादिसे ज्ञायकपना बदला नहीं है। स्वतःसिद्ध ज्ञायक है, वह स्वतःसिद्ध ज्ञायकरूप ही रहा है। प्रमत्त–अप्रमत्तकी जो दशा है, उस दशामें भी ज्ञायक ही रहा है। चारित्रदशाके जिन छठवें–सातवें गुणस्थानोंमें मुनि झूलते हैं अर्थात् क्षणमें स्वानुभूति और क्षणमें बाहर आये ऐसी जो पर्यायें हैं उस साधनाकी दशामें भी ज्ञायक द्रव्य तो ज्ञायकरूप ही रहा है, वह अनादिसे अशुद्ध नहीं हुआ। वह ज्ञान, दर्शन, चारित्रसे शुद्धरूपसे उपासना करनेमें आता हुआ शुद्ध ही है। द्रव्यदृष्टि प्रगट की तथापि ज्ञायक, ज्ञायक ही है; चारित्रकी दशामें भी वह ज्ञायक है; ज्ञानकी दशामें ज्ञेयाकार हुआ, तथापि वह ज्ञायक ही हैं। वह ज्ञेयोंको जानता है तथापि उसकी ज्ञायकता मिटती नहीं। स्वरूपको जाननेसे निर्विकल्पदशामें जाय तब भी वह ज्ञायक है और ज्ञेयोंको जाने तब भी ज्ञायक है; ज्ञेयोंको जाननेसे उसमें अशुद्धता नहीं आती। विभावदशा हो या प्रमत्त–अप्रमत्तदशा हो, ज्ञायकको कहीं अशुद्धता नहीं आती। शुद्ध–अशुद्ध के भेद हैं वे पर्यायके भेद हैं, द्रव्यके नहीं। वह तो स्वतःसिद्ध ज्ञायक है। बाह्यमें ज्ञेयोंको जाननेसे परका ज्ञान बढ़ गया इसलिये ज्ञानमें–ज्ञायकमें अशुद्धता आ गई ऐसा नहीं है, और अंतरमें ज्ञायकका ग्रहण होनेसे स्वरूपप्रकाशनकी–स्वानुभूतिकी दशामें भी ज्ञायक तो द्रव्य अपेक्षासे ज्ञायक ही है। ज्ञायक वह ज्ञायक ही है, ज्ञेयको जाने तब भी ज्ञायक है।

स्वरूपप्रकाशनमें स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही कर्म–ऐसी पर्याय प्रगट हुई, तथापि उसमें पर्याय सिद्ध नहीं करना है किन्तु ज्ञायक सिद्ध करना है। अपने स्वरूप प्रकाशनमें–निर्विकल्पदशामें गया तथापि ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। भले ही अपनी साधनाकी पर्याय–वेदनकी पर्याय–स्वानुभूतिरूपसे प्रगट हुई है, तथापि ज्ञायक तो ज्ञायक ही है।

ज्ञायक बाह्य ज्ञेयोंको पृथक् रहकर जानता है, उसमें उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं आती; इसलिये ज्ञायक ही है। उसकी पर्यायमें चारित्रकी अपेक्षा अशुद्धि है, परन्तु जाननेकी अपेक्षा अर्थात् ज्ञानके जानपनेसे अशुद्धता नहीं आती, क्योंकि वह बाहरसे भिन्न ज्ञायकस्वरूप रहकर अर्थात् ज्ञायककी उपस्थिति तथा ज्ञायककी धारामें रहकर जानता है उसलिये उसमें अशुद्धता नहीं आती। अनादिसे ज्ञेयके साथ एकत्व करके जानता था, तिसपर भी द्रव्यमें अशुद्धि नहीं आयी। ज्ञायक, प्रमत्त–अप्रमत्त अवस्थामें भी ज्ञायक है; दर्शन–ज्ञान–चारित्रके भेद हों तब भी ज्ञायक है; और

अवस्थामें अनादिका विभाव है तब भी ज्ञायक ही है–इसप्रकार द्रव्य अपेक्षासे वह सर्व प्रकारसे ज्ञायक है। कर्ता–कर्मका अनन्यपना कहकर भी उसकी पर्यायकी बात नहीं कहनी है, पर्याय कहकर ज्ञायक बतलाना है। ज्ञायक स्वानुभूतिमें जाय–निर्विकल्पदशामें स्वरूपका वेदन करे–तथापि ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। वस्तु स्वरूपसे ज्ञायक जो कि अनादिका है वह जो है वही है। जो मूल वस्तु है उसमें द्रव्य और पर्याय ऐसे दो प्रकार नहीं हैं। मूलवस्तु जो ज्ञायक है वह ज्ञायक ही है। पर्याय पलटती है वह अलग बात है परन्तु ज्ञायक है सो ज्ञायक ही है। ज्ञानमें बाहरका जाननेसे ज्ञायकपना किंचित् कम हुआ और भीतरका जाना इसलिये ज्ञायकपना कुछ बढ़ गया; अथवा बाहरका अधिक जाना इसलिये ज्ञायकपना बढ़ गया और भीतरका जाना इसलिये कम हो गया ऐसा कुछ नहीं है; ज्ञेयाकार होनेसे ज्ञायक अशुद्ध हो गया ऐसा भी नहीं है; द्रव्यअपेक्षासे ज्ञायक तो ज्ञायक है। द्रव्य अनादिका है; उसमें जिसने दृष्टि स्थापित की, उसे ज्ञानकी पर्याय हो या चारित्रकी–कोई भी पर्याय हो–तब भी सर्व अवस्थाओंमें ज्ञायक तो ज्ञायक है–सदाके लिये ज्ञायक है सो ज्ञायक है। पर्याय चाहे जिस प्रकार परिणमित हो, परन्तु ज्ञायक वह ज्ञायक ही है–ऐसा तात्पर्य है।

ज्ञायक, स्वरूपप्रकाशनमें भी ज्ञायक; ज्ञेयाकारमें भी ज्ञायक; प्रमत्त–अप्रमत्त दशामें भी ज्ञायक; और विभावकी किसी भी अवस्थामें ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। अनादिसे ज्ञायक है सो तो ज्ञायक ही है। द्रव्यदृष्टिसे साधनाकी पर्याय प्रगट हुई तथापि ज्ञायक सो ज्ञायक है–ऐसा आचार्यदेवका कहना है। **(स्वानुभूतिदर्शन – ४८८)**

धन्यआराधना...

उपाधियोगसे स्वयंको बहुत त्रास होता है। और इसलिये ऐसे प्रसंगोंमें हृदयमें यानी कि अंतरमें और बाह्य विकल्पमें भी आत्मस्वरूपकी सावधानी और सँभाल रखकर मुश्किलसे पुरुषार्थका प्रवर्तन करके स्थिर रह सकते हैं, आत्मबोध यथावत् बना रहता है। परन्तु आत्मज्ञानके विशेष परिणामोंका / विकासका अनवकाश होता है, ऐसा स्पष्ट अनुभवमें आता है। अतः आत्मामें आकुल–व्याकुलता होकर, इस प्रवृत्तिका त्याग करनेकी वृत्ति तीव्ररूपसे हो जाती है। तथापि खुदका ही उपार्जित कर्म होनेसे उस स्थितिका सम परिणामसे (–ज्ञाताभावसे), अदीनतासे (–पुरुषार्थपरायण रहकर), शांत भावसे वेदन करना–ऐसा जो ज्ञानीपुरुषोंका मार्ग, उसीका आराधन करना है–ऐसे स्मरणसे और निश्चयसे स्थिरता रहती है और उत्पन्न हुई आकुलता भी समाप्त होती है।

अंतरंग परिणामोंको व्यक्त करते हुए वे यहाँ लिखते हैं कि, हम ऐसे अवसरकी भावना भाते हैं कि सम्पूर्ण निवृत्तिमें रहा जाय और एकांत आत्मभावरूप परिणमन करे; अथवा आत्माका ही विचार; आत्मारूप हुए हैं ऐसे ज्ञानीपुरुषोंकी अंतरदशाका स्मरण; उनके प्रचंड पुरुषार्थके माहात्म्यकी चर्चा; उनके प्रति अत्यंत भक्ति; और आत्मभावके अलावा दूसरा अवकाश नहीं है ऐसे उनके आत्मचारित्रके प्रति आकर्षण रहे, और ऐसे ही परिणामोंमें समय व्यतीत हो;–ऐसे कालकी अत्यंत आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा करते हैं। अखण्ड आत्मधुनके एकतार प्रवाहपूर्वक अर्थात् आत्मस्वरूपकी खंडित न हो ऐसी धुन और संवेगयुक्त धारावाही परिणतिके प्रवाह पूर्वक ज्ञानीपुरुषोंकी आत्मव्याख्यारूप वाणी, और उनके सिद्धांतवचन, और उनके अपूर्व–अपूर्व भावोंको अति–अति भक्तिपूर्वक प्रमाण करते हैं। और वैसे ही परिणामप्रवाहमें रहनेकी आतुरता रहा करती है। परन्तु दूसरी ओर प्रवर्तमान द्रव्य, क्षेत्र, लोकस्थिति और अपने उदयको देखकर, इस भावना पर तीव्र प्रहार होता है और उक्त विचार मूर्च्छावत् हो जाता है।

इस पत्रमें उनकी आभ्यंतरदशामें, पूर्वोपार्जित कर्मोदयके सामने प्रचंड पुरुषार्थसे वे जूझ रहे हैं और भवच्छेद करके साधकदशामें विजयका ध्वज लहराते–लहराते मोक्षके प्रति आगे बढ़ रहे हैं–जोश पूर्वक आगे बढ़ रहे हैं। नमस्कार हो उनके परम प्रचंड पुरुषार्थको !

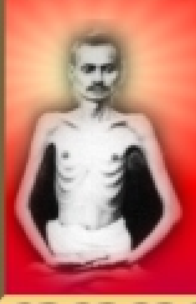

धन्य आराधना
(कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी द्वारा व्यक्त हुए स्वयं की अंतरंगदशा पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)

४६५

बंबई, श्रावण वदी ५, १९४९

'(निवृत्तिके लिये) किस क्षेत्रमें जाकर स्थिति करना, यह विचार अभी तक सूझ नहीं सका। विचारके परिणामकी स्वाभाविक परिणति प्रायः रहा करती है। उसे विशेषतासे प्रेरकता नहीं हो सकती।'

'आज दिवसपर्यंत अनेक प्रकारके उपाधियोगका वेदन करना हुआ है और यदि भगवत्‌कृपा न हो तो इस कालमें वैसे उपाधियोगमें धड़के ऊपर सिरका रहना कठिन हो जाये, ऐसा होते होते अनेक बार देखा है।'

'हम तो उस उपाधियोगसे अभी त्रास पाते रहते हैं, और उस उस सोयगमें हृदयमें और मुखमें मध्यमा वाचासे प्रभुका नाम रखकर मुश्किलसे कुछ प्रवृत्ति करके स्थिर रह सकते हैं। सम्यक्त्वमें अर्थात् बोधमें भ्रांति प्रायः नहीं होती, परन्तु बोधके विशेष परिणामका अनवकाश होता है, ऐसा तो स्पष्ट दिखायी देता है। और उससे आत्मा अनेक बार आकुलता–व्याकुलताको पाकर त्यागका सेवन करता था; तथापि उपार्जित कर्मकी स्थितिका समपरिणामसे, अदीनतासे, अव्याकुलतासे वेदन करना, यही ज्ञानीपुरुषोंका मार्ग है, और उसीका सेवन करना है, ऐसी स्मृति होकर स्थिरता रहती आयी है, अर्थात् आकुलादि भावकी होती हुई विशेष घबराहट समाप्त होती थी।'

'जब तक दिन भर निवृत्तिके योगमें समय न बीते तब तक सुख न रहे, ऐसी हमारी स्थिति है। 'आत्मा आत्मा' उसका विचार, ज्ञानीपुरुषकी स्मृति, उनके माहात्म्यकी कथावार्ता, उनके प्रति अत्यंत भक्ति, उनके अनवकाश आत्मचारित्रके प्रति मोह, यह हमें अद्यापि आकर्षित किया करता है, और उस कालकी हम रटन किया करते हैं।'

'आत्मस्वरूपमें भक्ति, चिन्तन, आत्मव्याख्याता ज्ञानीपुरुषकी वाणी अथवा ज्ञानीके शास्त्र या मार्गानुसारी ज्ञानीपुरुषके सिद्धांत, उसकी अपूर्वताको अतिभक्तिसे प्रणाम करते हैं। अखंड आत्मधुनके एकतार प्रवाहपूर्वक वह बात हमें अद्यापि भजनेकी अत्यंत आतुरता रहा करती है; और दूसरी ओरसे ऐसे क्षेत्र, ऐसा लोकप्रवाह ऐसा उपाधियोग और दूसरे दूसरे वैसे वैसे प्रकार देखकर विचार मूर्च्छावत् होता है।'

उदयभावमें भी अकर्तारूपसे ज्ञानदशामें सहज परिणमन होता है। यह प्रकार उनके उक्त वचनोंमें प्रदर्शित होता है कि, निवृत्तिक्षेत्र सम्बन्धित बारम्बार विचारोंके परिणामोंकी स्वाभाविक परिणति रहा करती है परन्तु प्रेरकरूप होकर ऐसे विचार नहीं हो सकते अर्थात् 'विचरे उदय प्रयोग' ऐसी स्थितिका यहाँ पर दर्शन होता है।

पीछले डेढ़ सालमें बहुत प्रकारका उपाधियोग रहा है। यहाँ पर भाषा प्रयोग देखते हुए ऐसा लगता है कि व्यापार आदि प्रसंगोंमें अनेक प्रकारकी बड़े प्रमाणमें उथल–पुथल हुई होगी कि जिसमें निश्चय उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति करते–करते भी क्वचित् पुरुषार्थके परिणाम मंदताको प्राप्त हो जाय। कृपालुदेवको भी ऐसा स्पष्ट अनुभव यहाँ पर हो रहा है कि भगवत्‌कृपा यानी कि निजपरमात्माकी कृपा अर्थात् सहज आत्मिक पुरुषार्थ यदि नहीं होता तो ऐसे उपाधियोगमें ज्ञानदशासे च्युत हो जाय (धड़ पर सिर न रह सके। ऐसा होता हुआ (भूतकालमें) स्वयंने कई बार देखा है। यद्यपि खुदको तो वैसा नहीं हुआ, परन्तु दशाकी विशेषता होनेमें अंशतः आवरण आने जैसा होता है। इस प्रकारके

(अनुसंधान पृष्ठ संख्या १८ पर)